भीतर का वक्त

अल्पना मिश्र

हिन्दी ADDA

भीतर का वक्त

ट्रेन सामने थी। वैशाली एक्सप्रेस। उसके ठीक बगल में खड़े थे हम। छोटी बहन, मेरे पिता, मैं और वह बच्चा, जो दस बरस के करीब था। पिता चुपचाप जाकर बेंच पर बैठ गए थे। कुछ उदास। मुझे जाना ही था। छुट्टियाँ खत्म थीं। मेरी भी। बच्चे की भी।

बहन उस दस बरस के करीब जा रहे बच्चे को अंतिम स्पर्श तक पकड़े रहना चाहती थी, जिसके भीतर रक्त जैसी मैं बह रही थी। जिसे मैं पूरा अपना मानती थी, मिलावट के सौ प्रतिशत अहसास के साथ। तब पिता कंधे पर शाल डाले बेंच पर से उठे थे। हल्के से, थके हुए।

'हाँ। पीछे लौटने के रास्ते बंद भी नहीं होते। सहमत हूँ। लेकिन पीछे लौटने की जरूरत क्या है? आगे जाना चाहिए।'

थके स्वर में उनका यह आखिरी उपदेश था। मेरे पास विकल्प नहीं था कि न मानूँ। मैंने सिर हिला दिया और ट्रेन में चढ़ गई।

बस्ती से दिल्ली नहीं जा रही हूँ। जा रही हूँ बस्ती से दिल्ली ही। यह दिल्ली से बस्ती लौटने जैसा लग रहा है। आगे जाती हुई ट्रेन जैसे पीछे लौट रही है। खाली। सुनसान।

चलते हैं हम जितना

पैरों के छूट गए निशान मिटाते नहीं जाते।

यह काम वक्त का है।

शायद पुरातत्व वाले ठीक-ठीक बता पाएँ कि खुदाई में मिले कितनों के छिल गए घाव उठाकर वे संग्रहालय में नहीं रख पाए। जो रख दिया जाता है सँभालकर, उसे, उसकी एक एक रिद्म को... पूरा पढ़ लिया जाएगा ही। यह मानना बेकार है। अब जो है, वह है, रहेगा ही। कोई न पढ़ पाए तब भी।

मेरी गिनती गड़बड़ थी। मैं उस समय को दिन, महीनों, साल में गिनकर नहीं बता सकती। गिनना मुश्किल भी था और ऊपर से गिनना बेकार भी। जाने कितना कुछ अथाह हाथ में आता और चला जाता था...

मैं सुबह-सुबह उठकर पढ़ रही थी। उस रोज भी। पढ़ने के लिए ही आई थी घर से इतनी दूर। बहन के हाथों में एक नन्हा सा बच्चा छोड़कर। भाभी, जिनके घर जाकर उस शहर में मैं ठहरती थी, वे इंप्रेस हुई थीं। अपने बच्चों को कहा था कि बुआ की तरह तुम लोग भी सुबह-सुबह उठकर पढ़ा करो। किताब सामने खुली थी, पर न जाने क्यों मुझे रोने-रोने का मन हो रहा था। उस छोटे बच्चे का चेहरा मेरी आँखों के आगे आ-आ जाता था, जो अभी चल भी नहीं सकता था। महीनों पहले, तीन दिन अस्पताल में

तड़पने के बाद, जिसे मैंने पाया था। पर उस क्षण में, जिसे मैं जान लेना चाहती थी, बस उसी क्षण में बेहोश थी...

तो जिसे मैं बेहोशी की की अवस्था के बाद जाना था। जो मेरे बगल में बेहद मरियल सा पड़ा था। जिसके रोने की आवाज की मैं कल्पना करती रही थी - वह प्रतीक्षा कि बच्चा पैदा होते ही रोता है, वह प्रतीक्षा कि बच्चे के रोने की आवाज सबसे पहले उसकी माँ सुनती है, वह रह गई थी। वह रोया था कई घंटों बाद। रात में। उसके रोने की आवाज एक बूढ़ी चालाक आँखोंवाली औरत ने सुनी थी। उसी ने उसे मेरे बगल से उठाया था और टहलाकर चुप कराने की कोशिश की थी, लेकिन वह माने तब न!

वह रो रहा था इतना, इतना मानो सदियों का रोना उसे आज पूरा करना था।

मैं तब जगी थी। इसे एक माँ का जगना नहीं कह सकते थे। यह एक बीमार का जगना था।

मैं अपने टाँकों की पीड़ा से कराहकर जगी थी।

बैठने की कोशिश में थी ही कि 'धप्प' से उसे मेरी गोद में डाल दिया गया था। मैंने पूरी कोशिश की थी। युग-युगव्यापी माँ में बदल जाने की। मेरी जाँघें जिस पर वह था, भीतर के टाँकों से टीस रही थीं। मैं बच्चे को गोद में हिला-हिलाकर सुला नहीं सकती थी। मैं दूध पिलाने को अपना स्तन उठा-उठाकर उसके मुँह में डालती, वह नहीं लेता। वह इस अनुभव से दूर था। उसे जाने कौन-सा कष्ट था, मैं नहीं जान पा रही थी। कैसे जान जाती हैं माँएँ? यह मुझे उस वक्त बिलकुल समझ में नहीं आया। अंततः यह फॉरसेप डिलीवरी थी। हो सकता है उसे फॉरसेप से चोट लगी हो, कहीं गुप्त सी। या न लगी हो। यह मेरा अनुभव भर हो सकता था...।

मेरा दूध गिरा जा रहा था। ब्लाउज भीग रहा था। अपनी साड़ी ब्लाउज के बीच फँसाकर मैंने दूध गिरने से रोकने की कोशिश की। यह मेरा पहला दूध था, जिसे डॉक्टर के अनुसार बच्चे को पीना ही चाहिए। इसी पहले दूध से बच्चे को इनकार था। मैं हार रही थी। उसकी चिंघाड़ के आगे मेरा दर्द बेकार था। बेआवाज था।

आखिरकार मैं युगव्यापी माँ की तस्वीर से निकल आई।

थककर मैंने उसे लिटा दिया और रोने लगी।

झप्प से झपककर बूढ़ी चालाक आँखोंवाली औरत ने उसे उठाया। मानो अब तक खड़ी वह मेरे हार जाने का इंतजार कर रही थी।

'अफीम चटा देते हैं गाँवों में। कौन ऐसा बच्चा लेकर सुहराता रहेगा।'

कहते हुए वह मुड़ी थी, कमरे से बाहर और थोड़ी ही देर में लौट आई थी। मैंने उसे खाली हाथ ही लौटते देखा था। बच्चा कहाँ रख आई वह? मैंने पूछना चाहा। वह बगल में पड़े लंबे सोफे पर चादर डालकर सोने लगी थी। बेड ऊँचा था। मैंने नीचे उतरना चाहा। मगर टाँके कमबख्त! लगता था दोनों जाँघें, जहाँ से जुड़ी हैं, वहीं से फट जाएँगी। खिंचती हुई जाँघों को मैंने उतरने से रोका।

'अम्मा, बाबू कहाँ हैं?'

आखिरकार वहीं से चिल्लाई मैं।

दरअसल यह चिल्लाना नहीं था। यह चिल्लाने में रिरियाना था।

सामने कठोर शिला-सी पीठ थी। अपने ऊपर उसके गिर जाने को बचाना भी था। मेरा कंठ उससे रार लेने को तैयार नहीं हो रहा था। पर मोह की प्रबलता ने जो शब्द रच दिए, वो बस रिरियाने जैसे ही निकले।

मैंने भरसक तेज स्वर में तरह-तरह से रिरियाना जारी रखा। अस्पताल के साथ और बहुत सारे भय जुड़े थे। लेटी हुई औसत कद की उस स्त्री से बड़े। उस वक्त यह सीधा उपाय था। पत्थर डोला ही।

'पटाय रहो। सुबह दे जइहैं।'

बाप रे, इतना बड़ा रिस्क! मैं तो कल्पना भी नहीं कर सकती थी।

इसी क्षण मुझे लगा था कि मैं व्यर्थ में पढ़ती चली गई। इस पढ़-लिखे हैं। यह जानते हुए भी कि आप जितना पढ़ते जाते हैं, उतना ही लकवा के रोग से पीड़ित। जो कुछ बहुत थोड़े से उपाय आप पढ़ ले गए थे, जिन्हें यकीनन ठीक ठीक तब भी नहीं जान पाए थे, भ्रष्टाचार ने उनके यकीन की पुर्जियाँ कब की उड़ा दी हैं। उन्हीं पुर्जियों को पकड़े भटकते हैं हम आप और कहते हैं कि पढ़े-लिखे हैं!

मैं पढ़ी-लिखी थी और अस्पताल में बच्चा गुम जाने, बदल जाने या उसके अंग-प्रत्यंग छूट जाने के एवज में लड़ी जानेवाली कानूनी कुकुरझौझौं के बीच अपनी हैसियत की कल्पना से डर के मारे काँप रही थी...

'नर्स आई थी। तुम कुछ बड़बड़ा रही थी।'

नफरत फेंकती आवाज में चालाक आँखोंवाली ने बिल्कुल मेरे पास आकर कहा। वह नहीं जानती। इससे पहले के कुछ टुकड़े मुझ तक आ चुके थे।

'मर जाती... लड़का है, कोई पाल लेगा...'

जैसे कंकड़।

मैं चिंतित हो गई। न जाने क्या हुआ इस बीच। भोर से अब तक।

'बाबू कहाँ हैं?'

नहीं पूछा।

बच्चा उसकी गोद में बॉटल से दूध पी रहा था।

भोर की पहली किरण खिड़की पर गिरी थी। मैं खुली आँखों उसे ताक रही थी। मैंने उसे सबसे पहले वहाँ पहुँचते देखा था। जाने क्यों आँख ही नहीं लगी रात-भर। मेरे कानों के पास कोई फुसफुसाया था।

'नहा लो। गंदी लग रही हो बहुत।'

मैं उठी। गंदी हो गई हूँ।

बच्चा पैदा करके गंदे हो जाते हैं हम।

तमाम-तमाम खून-पानी से भीगे। जानवर नहीं होते। हम होते हैं।

उस वक्त अपने आप में मुझे लगा जैसे मैं पिछली रात से भी ज्यादा गंदी हो गई हूँ।

जैसे किसी को कचरे में से ताजा-ताजा उठाया गया हो।

जैसे मेरे भीतर इतने दिनों का जमा गुस्सा, खीज, दुख, मिट्टी, पानी... सब सड़ गया है। सड़कर मेरे ऊपर फैल गया है।

मैं नहाने लगी।

अगस्त की सिहरन-भरी सुबह में खूब दाँत माँजा। ठंडे पानी से बाल धोया खूब। खड़े-खड़े। सिकुड़ने के साथ चिचिलाते दर्द में निकलते खून के थक्के (ब्लड क्लॉट) और ब्लीडिंग बढ़ने लगी। सीवन उधड़ने जैसा कुछ... एक के बाद दूसरा कपड़ा, दूसरा, तीसरा पैड बदलती जा रही हूँ... तब भी मुझे अच्छी तरह याद है कि नहाकर मैं आई थी। गीले बाल तौलिए से लपेटा था। बिस्तर पर बैठी थी। बच्चे को गोद में लेकर दूध पिलाने की कोशिश कर रही थी। इसके बाद का कुछ याद नहीं रहा। हाँ, जब होश आया तो मैंने हल्की सी फुसफुसाहट सुन ली थी, टुकड़ों में, कंकड़ जैसी, जो मुझ तक आ ही गई थी।

हड़बड़ाकर अपनी साड़ी ठीक किया था मैंने। साड़ी, जो कमर तक उठी थी। मैं उल्टा लेटी थी। यह रात का वक्त था।

बड़बड़ाते तो तेज बुखार में हैं। बुखार है क्या मुझे?

अपना हाथ उठाकर अपना ही माथा छू लेने में सदियाँ लग गईं। हिला भी नहीं जाता। हे भगवान! कितनी दूर चला गया है वह आदमी! होता भी तो क्या होता? उससे बात करना... 'यकीन' शब्द उसके पास नहीं था। फिर भी पत्थर के भीतर पानी का सोता हो सकता था। शायद। शायद कुछ बदलता...

तमाम दुर्गतियाँ, असहमतियाँ, जिनके बीच से निकलकर मैं यहाँ सही सलामत बैठी थी, किताब के अक्षरों पर गिर रही थीं। बच्चे का चेहरा, जो किताब के ऊपर हिल रहा था, उसे असहमतियों के अक्षर उठा ले जाना चाह रहे थे। पढ़ना दुश्वार!

बार-बार अखबार में गुड़ी-मुड़ी करके रखी सत्तू की डेढ़ रोटी और आधा भरे लाल मिर्चे का अचार मेरी किताब के पन्ने पर फैल जाता। बटोर कर उसे हर बार अलग करना पड़ता। यह वह रोटी थी, जो गुप्ता आंटी मेरे अस्पताल जाने से पहले ले आई थीं। उनका वादा था किसी दिन का। मुझे याद तक नहीं था।

चूँकि वह बुधवार का दिन था और बुधवार का दिन चालाक आँखोंवाली स्त्री को सूट नहीं करता था। वह टाल रही थी। सुबह से। वह किसी और दिन के बारे में सोचना चाहती थी। मैं रुक नहीं सकती थी। रुकना खतरनाक लग रहा था। ब्लीडिंग होते जाने के कारण चिंतित भी थी। मुझे ठीक से पता नहीं था कि ऐसा होने पर क्या हो सकता है? बस इतना समझ आया था कि खून निकल रहा है तो बच्चा मर सकता है। उस

वक्त मुझे अपने बॉयोलॉजी न पढ़े होने का कितना अफसोस हुआ, कह नहीं सकती। लड़कियों को शरीर विज्ञान पढ़ाना कॅम्पलसरी करना चाहिए। शादी, बच्चा पैदा होने और उसके बाद के तमाम सच...

मैं स्कूलों से अपील करती हूँ कि वे कृपया अपने पाठ्यक्रम मे इन निहायत जरूरी बातों को शामिल करें...

तो चिंता के मारे लगता था कि मैं खुद ही भागकर अस्पताल चली जाऊँ, मगर चारों ओर की खोखली दीवारें उस वक्त बड़ी मजबूत लग रही थीं। सभ्य घर की बहुएँ... बेचारी!

रात घिर रही थी। दिन, अशुभ दिन बीतने-बीतने को था। जिंदगी मुझ से अब दूर जाने को है। मैंने मान लिया था कि तभी अचानक गुप्ता आंटी चली आईं। किसी के आने की आहट से अपनी ही जगह पर स्थिर मैं जोर-जोर से चिल्लाकर रोनी लगी। वे भौंचक! चिल्लाहट में लिपटी वे किसी तरह मुझ तक चली आईं। जोर से रामायण का पद जपने के बाद चालाक आँखोंवाली को उन्होंने उकसाया। एक से एक भयानक खतरनाक चित्र खींचे। एक चित्र, जो मुझे याद रह गया, वह गाड़ी में अस्पताल ले जाने का चित्र था जिसमें आधे रास्ते में ही डिलीवरी हो जाती है... जच्चा बच्चा दोनों की जान गई... तमाशों के बीच पुलिस केस तक...

उस वक्त मैं इतनी परेशान थी कि मुश्किल से आधा रोटी मिर्चे के अचार के साथ खा पाई थी। बाकी वहीं किचन में रखे स्टूल पर छूट गया था।

पूरी रात और पूरे दिन के बाद मैंने खाना माँगा था। देवर चाय लेने दौड़े थे। मौसिया सास घर की तरफ खाना लाने दौड़ी थीं।

मौसिया सास को चरणस्पर्श! उनकी सहृदयता! ईश्वर कहीं होगा तो जरूर देखेगा। यही कि वे जल्दी ही घर से लौट आई थीं। हाथ में उनके गुड़ी-मुड़ी हुआ अखबार का एक पन्ना था। अखबार उन्होंने अस्पताल में मिले उस कमरे के बेड पर खोल दिया था।

सत्तू की डेढ़ रोटी और आधा लाल भरे मिर्चे का अचार!

भूख न जाने कहाँ बिला गई!

दो दिन तक वह रोटी और अचार ऐसे ही पड़ा रहा होगा वहाँ स्टूल पर या कि जूठा खाना फ्रिज में रख दिया होगा? हे प्रभु! जो रोज मन-मन भर रोटियाँ बनाए, उसके लिए कोई एक रोटी भी बनाने को तैयार नहीं!

चालाक आँखोंवाली स्त्री घर ही नहीं गई। वह मजे से किनारे पड़े सोफे पर पैर फैलाकर बैठती, लेटती और मोहल्ले का कोई खाने की चीज लाता तो थोड़ा सा मुझे देकर बाकी खा लेती। वह दुख का इजहार करते हुए लोगों से मिलती और खुशी का इजहार करते हुए बाथरूम इस्तेमाल करती। कभी-कभी जब पुरानी परिचिता मिसेज रेड्डी के यहाँ खाना खा आती या नहा धो आती, तब दिन इडली दोसे की तारीफों से भर जाता।

देवर अचानक थर्मस में दूध लेते आए। उनकी भी बुद्धि को धन्यवाद!

'अब कुछ न लाना। लोग कुछ न कुछ दे ही जाते हैं।'

चालाक आँखोंवाली ने लपककर अपने बेटे यानी मेरे देवर से थर्मस ले लिया और दूध को दो गिलासों में बराबर पलटा।

'कमजोरी से माथा चकरा है।' कहते हुए एक गिलास वहीं अस्पताली स्टूल पर छोड़कर दूसरा पीने लगी।

देवर गए। मौसिया सास गईं। अखबार में रोटी अचार गया।

'पीओगी अभी?'

अचानक चालाक आँखोंवाली ने गिलास आगे किया और रो पड़ी।

'हमारे टाइम कुछ नहीं मिलता था हमें। तुम्हें दूध मिल रहा है। लेकिन दूध रोज कहाँ से आएगा? घर में पैसों की कितनी कमी हो गई है...'

और भी क्या क्या... मेरे कान में नहीं पड़ रहा। निर्लज्ज की तरह दूध पी रही हूँ मैं।

भूख तब ऐसी लगती थी, जिसके बारे में सामान्य रूप से सोचा भी नहीं जा सकता।

मैं पढ़ रही थी और पढ़ नहीं पा रही थी। लगता कि किसी चेहरे को मुझसे छीनकर कभी भी अलग कर दिया जाएगा। वह आदमी जो दूर था, वकीली भाषा में आई उसकी दरखास्त पढ़ी थी मैंने। उठी मैं। बिना किसी से कुछ बोले पैदल चल पड़ी। चलते-चलते जहाँ पहुँची थी, वह ब्वॉयज हॉस्टल था। कमरा नंबर 112...

सुबह के नौ बज रहे थे। कमरा खुला था। दो सिंगल चौकियाँ बीच की जगह को छोड़ती पड़ी थीं। एक बड़ी-सी मेज और बड़ी-सी मोटे हत्थेवाली एक कुर्सी, एक तरफ कोने में थी। कमरे के एक छोर से दूसरे छोर तक ऊपर, छत से एक फीट की दूरी छोड़कर रस्सी बँधी थी। उस रस्सी पर तमाम हैंगर तमाम कपड़ों के भीतर लटके थे। एक लकड़ी की छोटी अलमारी भी थी। स्टील का ताला बंद था उसमें। एक लड़का चौकी पर बैठा था, जिसकी पीठ मेरी तरफ थी। दूसरा लड़का फुल पैंट और बनियान पहने उसी अलगनी पर से कुछ उतार रहा था। मुझे सबसे पहले जो दिखा, वह छत पर लगी रस्सी थी, जिसपर से कुछ उतारते हुए बनियान पहने लड़के के काँख के बाल दिख रहे थे। घुँघराले, लंबे, उलझे से।

इतने में बैठा लड़का पीछे मुड़ा और कुछ चिल्लाया। जिसका मतलब रहा होगा - देखो तो, कोई आया है।

बनियान वाला लड़का मुड़ा। एक क्षण को हाथ में हैंगर पकड़े वह खड़ा ही रह गया। फिर चौंका। मुझसे कुछ बोलने की बजाय उसने अपनी बनियान को देखा। उसके देखने के साथ मैंने भी उसी की बनियान देखा। बनियान पीली पड़ चुकी थी। काँख के ठीक नीचे एक अच्छा सा गोल छेद भी बता रहा था कि उसे बस चलाया जा रहा है। लड़का शरमा गया। जल्दी-जल्दी सारे हैंगर में से हड़बड़ाकर ऐसी बुशर्ट खोजने लगा, जिसे वह तत्काल पहन सके। इन सभी के बीच वह बैठा हुआ लड़का अजीब खुशी का इजहार करता वहाँ से निकलकर कहीं गुम हो गया। इन सभी के बीच मुझे भी इतना समय मिल गया कि मैं खुद से चौंक पड़ी। यहाँ, इस समय कैसे चली आई हूँ? बच्चे की तस्वीर अभी भी मेरे सामने है। उस आदमी की कानूनी नोटिस अभी तक आँखों से ओझल नहीं हुई है। शादीशुदा मैं! यहाँ! इस समय!

'मैं बस ऐसे ही...'

क्या कहूँ? कुछ कहते ही नहीं बन रहा।

'अरे, आओ, आओ, बैठो।'

अब कहा उसने। मेरे बाद। उस बड़ी-सी कुर्सी को उठाकर बिल्कुल बीचोंबीच रख दिया। जैसे कितना बड़ा सिंहासन रखा गया हो मेरे लिए।

अपने इस तरह यहाँ चले आने से खुद परेशान मैं जाने को मुड़ी।

'चलूँगी। बस ऐसे ही...'

'नहीं, नहीं। ऐसा कैसे? बैठिए, बैठिए।'

उसने मेरे निकट आकर कहा।

उस सिंहासन पर बैठ गई मैं।

'क्या बात है? क्या बात है?'

वह मेरे निकट, बहुत निकट था।

पहाड़ लिए फिरते हैं हम

अपने ही भीतर

और दुस्साहस ऐसा, इतना कि

उसे पिघलाकर बहा रहे होते हैं।

न जाने मेरी आँखों को क्या हुआ, समुद्री लहरें उमड़ीं और उमड़ती ही चली गईं।

कहाँ खर्च हो रहे होते हैं हम?

पता नहीं होता।

'कह सकती हो।'

उसने बहुत देर बाद कहा।

अब मैंने देखा कि कोने में एक छोटा सा हीटर जल रहा था, जिस पर छोटे से स्टील के भगोने में दूध उबल रहा था...

तो चाय बना रहा था वह।

यह पहली और आखिरी चाय, उसके हाथ से बनी स्टील के गिलास में पड़ी थी। जिसे पीना कितना कितना मुश्किल लग रहा था।

ऐसे वक्त, जब आप समुद्री तूफानों से लड़ रहे हों, कोई आपके हाथ में चाय का गिलास थमा दे...

मैंने पीया। यह आसान था।

आसान दिखना आसान नहीं होता।

मैं हटाना चाहती थी उस पत्थर को, जिसे मैंने अपने हाथों झरने का जल बंद करने को रखा था। चाहती थी कि समुद्री लहरों को उसकी हथेलियों पर उँड़ेल दूँ - उमड़ते हुए बारीक अनुभव। समय की सीवन उधेड़ूँ और वह देख ले चुपचाप। सब। कुछ ऐसा होता चला जाए...

ठक् से इसी वक्त मुझे अपने पिता याद आए। ड्राइंगरूम में शाल ओढ़कर बैठे। एक शालीन सा व्यक्तित्व लादे। दो आदमी आगे-पीछे घुसते हैं। प्रणाम करके एक उनके बगल में विराजमान, दूसरा कुछ दूर। दूर बैठे लड़के ने हल्के आसमानी रंग का धारीदार शर्ट पहना है और दूसरे ने खादी का पैजामा-कुर्ता। खादी पैजामा-कुर्ता वाला अधेड़ है।

'का हो! अब तुम भी बाहर जाकर क्या पढ़ लोगे? तुम्हारे बाप भी गए थे, क्या किए, बंगालिन ले आए अलग... तुम सबकी जिंदगी नरक...'

'खानदानिए ससुर!'

खादी पैजामा-कुर्तावाला सहानुभूति में हिकारत मिलाकर कहता जाता है।

आसमानी धारीदार शर्ट के भीतर छिपी काया शर्मसार है। क्या करे! कैसे छिटककर अलग दिखने लगे खानदान से?

चाय लेकर आते मेरे हाथ ठिठके। कोई किसी का इस तरह अपमान कर सकता है, सबके सामने? मेरे समाजवादी पिता के सामने?

पिता चुप हैं।

तटस्थ होना एक कला है।

सबको नहीं आती।

उसकी माँ जो अकेले रह गई थीं। पागल की मुहर लगाई गई थी उन पर।

पागल होते हैं हमारे आस-पास और उनका होना नहीं माना जाता। फिर जाने कब किस गह्वर में समा जाते हैं। कोई जान नहीं पाता!

छोटी बहुत रही होगी तब आसमानी शर्ट के भीतर की काया। दादी पाल ले गई थीं उसे, उसके भाई-बहनों को। शाबाश दादी! क्या जिगर रहा होगा बुढ़िया का! एकछत्र साम्राज्य! हस्तक्षेप करनेवाले सावधान!

आसमानी शर्ट में बैठा पोश्चर धीरे-धीरे सामने के खड़े लड़के में समा गया। बैठे लड़के का पोश्चर खड़े लड़के के भीतर। टेढ़ा-मेढ़ा सब सीधे के भीतर!

'तुम काँप रही हो।'

उसने अपना फौजीनुमा जैकेट मेरी तरफ बढ़ाया।

नहीं।

जिस वक्त मेरा मन जैकेट ले लेने का था, उसी वक्त मैंने बिना कुछ कहे इनकार कर दिया था। बाहर निकल आई थी। तेज धूप में। धूपिया ठंड में।

तब से पैदल चली जा रही हूँ। किस यात्रा पर निकली हूँ क्या जाने! पैसा-कौड़ी जेब में नहीं है। रिक्शा ख्वाब में नहीं है। नहीं है तो बस, नहीं है।

नियति के साथ समझौता नहीं है यह। हम गुस्सा कर भी कभी-कभी देखते हैं उसे।

... ...

'हम समझे कि कोई महरी आकर बाहर बरामदे में बैठ गई है।'

यात्रा के एक पड़ाव पर रुकती हूँ तो बहन कहती है।

अच्छे (?) घर में शादी हुई है। महरी से बेहतर दिखना चाहिए था मुझे। नहीं दिख पा रही हूँ। शायद। बाहरी दरवाजा खुला है, वहीं बरामदे की सीढ़ी पर थककर बैठ गई हूँ। घर के भीतर जाने तक की शक्ति नहीं लग रही हैं। पिछले महीने इतने शक्तिशाली हैं कि मेरे पाँवों को उठने तक नहीं देते। लो, अब बैठ ही गई हूँ। ब्लाउज खोलकर साड़ी से ढककर बच्चे को दूध पिलाने लगी हूँ। कब सीखा मैंने ऐसा करना! वक्त कितना कुछ सिखा देता है। बालों में अँगुलियाँ फिराकर कंघा जैसा कर लिया है। बिंदी माथे पर अपनी जगह दुरुस्त है। साड़ी सस्ती है तो क्या ठीक-ठाक से बाँध रखा है। बगल में एक सस्ता खस्ता पर्स भी लटका है। एक बैग भी है थैलेनुमा। बस।

'महरी लग रही हूँ एकदम।'

कैसे-कैसे पहुँची हूँ यहाँ तक। बहन को नहीं पता। जानेगी तो अपने शब्द वापस ले लेगी या डाँट भी सकती है। क्यों उठाया इस वक्त मैंने ऐसा कदम?

अतियों के बीच कदम कब उठ जाते हैं, इसका लेखा-जोखा कहीं पहले से तैयार किया जा सकता? कोई कहानी नहीं है यह कि पहले से एक फ्रेम बनाकर पात्रों को यथास्थान बैठा दिया जाए।

दरवाजा खुला है तो दिख रहा है कि अंदर क्या चल रहा है। दीपावली का पाँचवाँ दिन है। गोवर्धन पूजा की जा रही है। आँगन में गोबर से गोवर्धन जी बनाए गए हैं। माँ ऐसी तरफ बैठी हैं कि मुझे नहीं देख पा रही हैं। पहले एक बहन गोवर्धन जी को कूट रही है, फिर दूसरी, फिर तीसरी और अंत में माँ कूटने के लिए खड़ी होती हैं। बहनें जब कूट रही थीं तो माँ गा रही थीं। जब माँ कूटने उठी हैं तो बहनें हँस रही हैं। गाने में उन्हें शर्म आ रही है। वे खी-खी कर रही हैं और माँ कुछ बुदबुदाते हुए कूट रही हैं। वही सब, पहले जैसा। कूटना खत्म होते ही उनकी निगाह दरवाजे की तरफ पड़ती है। दरवाजे से बरामदे, बरामदे से सीढ़ी तक। वे रुकती हैं। कुछ कहा होगा बहन से। वह आती है देखने।

कौन बैठा है वहाँ?

छोटे कद का पहाड़।

दुबली सी नदी।

'बाप रे, कितना दुबरा गई। चलो, चलो।'

माँ ने बच्चे समेत मुझे उठाया। अगर संभव हो पाता तो वे पूरा मुझे गोद में उठा लेतीं।

'पापा नहीं हैं। पूरा शहर कर्फ्यू से बंद है। घर के आदमियों को पुलिस पकड़कर बंद कर रही थी इसीलिए सबके घर के सब आदमी शहर छोड़कर छिपने चले गए हैं। पापा भी। महीना-भर हो गया। रुक-रुककर कर्फ्यू चालू है। बड़ी परेशानी चल रही है बेटा! राशन-पानी-सब्जी की मुसीबत। डॉक्टर-दवा की मुसीबत। नरक बीत रहा है। तुम इन सबमें कैसे चली आई?'

वे हैरान थीं। परेशान थीं। उनके पास उनकी परेशानियों की गठरी थी। मैं अपनी गठरी नहीं खोल पाई। बस तब, जब उन्होंने मुझे गोद में उठाने जैसा उठाया था, तभी मेरी आँखें उत्पात करने को मचली जरूर थीं। बस तभी, फिर घर को देखकर शांत हो गईं।

'ढाई महीने के बच्चे को लेकर कैसी मुश्किलों से, मृत्यु से लड़कर भाग आई हूँ।'

यह नहीं कहा।

बहुत कुछ जो नहीं कहा जा पाता अपनों से, कहा हुआ जैसा हो जाता है।

अपने आप।

यह 1990 का नवंबर था। दीपावली बीती थी चार दिन पहले। शहर में कर्फ्यू था। ट्रेन से फैजाबाद स्टेशन पर उतरी थी मैं। दहशत से पटा था स्टेशन। जबकि बाबरी मस्जिद का ढहाया जाना अभी भविष्य के गर्भ में था। पर शहर पहले ही बदहाल हो गया था। मैं दो दिन की यात्रा करके पहुँची थी। मुझे उम्मीद भी न थी शहर के इस हाल की। हल्का-फुल्का अंदाजा लगता रहा था रास्ते भर कि अयोध्या के चलते बड़ी हलचल हो गई होगी शहर में। न्यूज से कोई वास्ता ही नहीं रहा इतने दिनों। पर मुझे निकलना था। मेरे लिए दोनों तरफ हिंसक था शहर। दोनों हिंसाओं में से एक हिंसा चुननी थी। चुन लिया था। अब पहुँच चुकी थी। दिल धक-धक कर रहा था। बस स्टेशन तक पैदल आई, बच्चा, थैला और पर्स टाँगे। बस स्टेशन की पुलिया पर बैठकर सुस्ताने लगी। कुछ देर। इक्के-दुक्के लोग आ जा रहे थे। सन्नाटा था अजीब सा। दुकानें बंद थीं। भूख-प्यास से गला सूख रहा था। सिर फटा जा रहा था। स्टेशन के एक कोने से मुँह लटकाये हैंडपंप खड़ा था। सूखा। वहाँ तक जाने की हिम्मत भी नहीं हुई। अंदर कई बसें थीं। एक बस खड़ी थी बस्ती की प्लेट पहने। मगर अंदर बाहर न कोई कंडक्टर, न ड्राइवर। दूर एक जीप खड़ी थी, वहाँ भी कोई नहीं। सुस्ताते सुस्ताते यही सोच रही थी, कोई आए तो पूछूँ - 'जाएगी क्या?' लेकिन कोई आया नहीं। सारी बसें जाने किसके इंतजार में खड़ी सी लग रही थीं? जाने किसके भरोसे? अब क्या करूँ? इक्के-दुक्के लोग भी चले गए थे। हे प्रभु! सन्नाटा कितना डरावना होता है!

'कहीं जाना है क्या?'

मैं शायद यात्री की वेशभूषा में थी उस समय तक।

'हाँ, बस्ती।'

हड़बड़ाकर मैंने कहा। कहीं जाने का यह मौका छिन न जाए।

'चार सौ रुपये लगेंगे।'

'चार सौ तो नहीं हैं भाई!'

'अच्छा, जितने हैं, उतने दे देना।'

कोई उपाय नहीं था।

फिर भी एक बार मैंने सारी बसों को देख ही लिया।

अपना सस्ता खस्ता पर्स खोलकर रुपये टटोले।

चुराए गए रुपये, जो अब खत्म होने को थे। इस यात्रा के बाद तो हो ही जाने थे। बिना किसी पश्चाताप के मैं कह सकती हूँ कि ये रुपये, जो मेरे पास थे, उस चालाक आँखोंवाली औरत के थे। उसके साम्राज्य की खुरचन। हालाँकि उसके पास भी कितना था? फटेहाल जेबों से कितने रुपये चुराए जा सकते हैं? इसे चुराया जाना नहीं कहा जाना चाहिए। इसे चुपके से उधार लेना भी नहीं कहा जा सकता। इसके लिए किसी और शब्द की जरूरत है। धन के तबादले जैसा। तो ये थे कहीं और मेरे पास चले आए थे।

'घर तक छोड़ना होगा।'

मैंने सिलिंडरों से लदी जीप की तरफ देखते हुए सौदा किया था।

दहशत, सन्नाटे और कर्फ्यू को ठेंगा।

'चल, चल, पीछे बैठ जल्दी।'

यह ठेंगे का हथौड़े में बदलना था।

दिल पर गिरते हथौड़े में। खासा अपमानजनक।

शब्दों के जहर से लड़ती मैं जीप में पीछे लदे सिलिंडरों के साथ बैठ गई।

तो फिर ठक् से वही, ड्राइंगरूम में शाल ओढ़कर बैठे पिता याद आए। क्या कहूँ कि पग पग पर जब भी मेरा सामना अपमान से हुआ है तो मुझे चुप रहे गए पिता बहुत याद आए हैं। पिता से हुई नाराजगी, इतनी बड़ी नाराजगी में बदलती चली गई कि अब वही उसमें से गुम हो गए हैं।

चौंकती आँखों से देख रही हूँ सब तरफ। हादसों के निशान सड़कों से ओझल नहीं हुए हैं। कहीं कहीं चाय के ठेलेवालों ने अपनी दुकान बंद जैसी खोली है।

हमारी तो हिम्मत नहीं है कि फिर उसके ठेले से चाय पी लें। बस एक बार ट्रेन में घुस गए हैं तो अब गोरखपुर ही उतरेंगे। उस रूट पर खतरा जरा कम है। बीच में कोई एक दूसरे को देखता नहीं। 16 दिसंबर 1992 की सुबह थी। यह बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने को प्रति-क्षण याद दिलाता समय था। जो कुछ अतीत नहीं बन सकता था। वह फैला हुआ था स्टेशन पर। दहशत। पूरी ट्रेन खाली। उस बनियान वाले लड़के के माथे पर लकीरें हैं। मेरे भी। हालाँकि बनियान छिपी हुई है, पर मुझे लग रहा है, जैसे दिख रही हो। एक ही बर्थ पर बैठे हैं हम, दूर, बहुत दूर...

दो दोस्त... दो अजनबी...

'बस्ती चलना है?'

उसी ने पूछा था।

'इस समय?'

'हाँ। गाँव में लड़ाई-झगड़ा हो गया है। बड़े भाई नहीं रहे। विकलांग पहलवे से थे... चोट लगी होगी...शहर बंद पड़ा है। दादी अकेले परेशान...'

आश्चर्य कि इतने वर्षों में मैंने पहली बार जाना कि उसका बड़ा भाई विकलांग था। पहली ही बार जायदाद के झगड़े में किसी के मर जाने को भी महसूस किया।

लोग मर जाते हैं। विकलांग हों तब भी नहीं छोड़े जाते।

इसके पहले तक जायदाद के झगड़े खबर थे मेरे लिए। पर इस हद तक... सोच नहीं सकती थी मैं।

तिस पर एक बच्चा आकर मेरे सामने रुक गया था। दस्त पे दस्त लगे जा रहे हैं उसे। बीच-बीच में खून। खूनी पेचिश जैसा कुछ। डॉक्टर की अलग दिक्कत। शहर बदहाल। कर्फ्यू खुलता है तो बहन उसे गोद में चिपकाए इस उस डॉक्टर के यहाँ चक्कर लगा रही है। डॉक्टर सदी के सबसे मूल्यवान व्यक्ति बन गए हैं।

'आओगी कब?'

नन्हे बच्चे की उस आकृति ने कहा था।

'जिसका बच्चा है वो आकर ले ले तो चैन मिले।'

बहन ने ऐसा नहीं कहा था। बस ऐसा कहने की तरह कुछ और कहा था। यह छिपा था। मैंने इसे निकाला था।

'क्या खिला दिया ऐसा?'

यह मैंने नहीं पूछा। बस ऐसा कहने की तरह कुछ और ही कहा था। पता नहीं इसे वह अपने पर ले पाई या नहीं?

मेरी कृतघ्नता। मेरा स्वार्थ। उसे ढाँढ़स बँधाने की बजाय गुस्सा!

हाँ। कितना हलकान थी वह।

यह क्या कहती जा रही हूँ? सब जानकर भी।

इसी में से निकलकर चलना था। यह चलना निहायत मजबूरी में से शुरू हुआ था।

जीने की जरूरत जीने से बड़ी थी। यहाँ भी।

उसी दोपहर ढाई बजे ट्रेन में थे हम। मुझे उस वक्त ध्यान ही नहीं आया कि लड़की हूँ। ऐसे माहौल में बस्ती तक का सफर करने जा रही हूँ। महीने भर से यहीं अटकी थी। बच्चे और बहन को एक साथ सीने में छिपाए।

मैं उसी नीचेवाली बर्थ पर लेट गई। वह सामने बैठ गया। तभी सन्नाटे को चीरती खट्ट की चौंकानेवाली आवाज के साथ ट्रेन रुक गई। कोई छोटा स्टेशन था। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी। खिड़कियाँ बंद थीं। तब भी लगता था कोई भी, कभी भी इन्हें तोड़ सकता है। हालाँकि वह सामने बैठा था। मन ही मन कुछ जपता सा। खिड़कियाँ तोड़ने से वह रोक नहीं सकता था। जानता होगा। बर्थ के आगे की ओर उझककर धीरे से झाँकने लगा वह। शायद हमारी वाली बोगी में कोई चढ़ा है। साँस रुक गई। क्षणभर में अपनी अपनी परिस्थितियों को हमने अपनी आँखों के आगे पाया। उसकी चौकन्नी आँखें और बड़ी।

'आगे आओ। आगे वाले दरवाजे के पास।'

आँखों के इस इशारे पर हम चुप कदमों से चलने की कोशिश करते हुए अपना अपना बैग लटकाए आगे बढ़े। मेरे पीछे कोई था क्या? पीछे मुड़कर मैं नहीं देख सकती। तुम देखो। वह भी नहीं देखेगा। उससे तो मानो चला ही नहीं जा रहा। आगे का रास्ता ब्लाक कर रहा है अलग...

आखिरकार आकर हम दरवाजे के पासवाली बर्थ पर बैठ गए। बर्थ पर हम दो बैठे थे चुपचाप। लेकिन लगा कि हम तीन बैठे हैं। चुपचाप। धीरे-धीरे मैंने गर्दन मोड़ी। उसने भी। उसने हाथ पहले पकड़ा या मैंने? नहीं याद रह गया। यह छुअन दहशत की मजबूत पकड़ से बन गई थी। अनायास।

'गोरखपुर तक?'

जब हम दोनों अपने कोनों में समाए हुए थे, तब तीसरे कोने में बहुत देर बाद उन्होंने बहुत मुश्किल शब्दों को फेंका।

तीसरे कोने में वे लंबी काली दाढ़ी, पैजामा-कुर्ता और बंद गले की हाफ जैकेट पहने, हाथ में छोटा सा सूटकेसनुमा बैग लिए बैठे थे।

'हाँ, हाँ।'

हमने बहुत जल्दबाजी में एकसाथ कहा।

मुझे कंबल उढ़ाए जाने का अहसास-सा हुआ। शायद सोचते-सोचते झपकी आ गई थी। हालाँकि अपने भरसक मैंने आँखें खुली रखी थीं। मेरे ही बैग से निकालकर मेरा ही कंबल कोई मुझे उढ़ा रहा था। मेरे हाथ में एक किताब थी, वर्णमाला की। मैंने अपने कोने में सिकुड़े-सिकुड़े उस पर कुछ लिखा था-

'हर माँ अपने बच्चे के पास पहुँचे सकुशल...'

मेरे हाथों से किताब निकालकर उसने चिंता को छुआ। मैंने खुली आँखों से उसे अक्षरों को चूमते देखा था। कुछ बुदबुदाते सुना था।

'हे प्रभु! मेरी तरह कोई न हो...'

कुछ कुछ ऐसे ही शब्द। मैं ऐसा सो भी नहीं गई थी कि सुनने देखने से परे चली जाऊँ। उकड़ूँ सी सिकुड़ी थी कंबल के नीचे। मन हुआ था पैर फैला लूँ।

हम जो चाह रहे होते हैं।

ठीक-ठीक वैसा, उतना ही नहीं चाह रहे होते।

उसके अगल-बगल कितना कुछ इस चाहने में मिला होता है।

विशुद्ध चाहना, विशुद्ध चाहना नहीं होती।

तमाम-तमाम मिश्रणों की यह चाह अपने स्वीकार में धीरे-धीरे खुलती है।

तब कहीं जाकर हम जान पाते हैं कि यह उतना विशुद्ध था ही नहीं, जितना हम सोच रहे थे।

'टूथपेस्ट लाई हो?'

मुझे हिला-हिलाकर पूछ रहा था कोई।

'हाँ। बैग के साइड में है।'

झुककर जिसने बैग से टूथपेस्ट निकाला, वे बड़े हाथ छोटे हो गए थे। मैंने छोटे हाथों को ब्रश पर टूथपेस्ट लगाते भी देखा और मुड़कर बाथरूम की दिशा में जाते भी।

तो इस बीच क्या करती रही मैं?

चौंककर मैंने अपने ऊपर पड़ा कंबल हटाया।

बीतता चला गया जो कुछ, वह बीतकर भी नहीं बीता।

कितना कुछ कहना, पूछना रह गया...

कितना कुछ समझाना, सरियाना...

उसे आना ही चाहिए, क्योंकर भीतर उमड़ रहा है यह? जबकि मैं बिल्कुल नहीं चाहती कि मेरा जीवन, जो अब कुछ व्यवस्थित चल ही पड़ा है, डिस्टर्ब हो जाए। मैं अपनी नौकरी और बच्चे के साथ ठीक थी। जब ऐसा था ही, तब यह तड़प...

मुझे वह चाहिए भी और नहीं भी। मैं बदलना चाहती हूँ सब कुछ और नहीं भी। मैं चलना चाहती हूँ और रुकी हुई हूँ। मैं रुकना चाहती हूँ और चली जा रही हूँ। मैं पिता से कहना चाहती हूँ कि कृपया अपने विचारों को इस तरह फ्रिज में न रखें। विचार आखिर जीने के रास्ते की तलाश होते हैं। उन्हें जीने के लिए उतारना चाहिए। नीचे।

नीचे, पैरों तक।

कहाँ कह पाई उनसे?

जो कह दिया था, उसी के उत्तर में वे कुछ कहकर चले गए थे। जिसके लिए मुझे न कहना था, पर मैं उन्हीं के कहे पर आगे बढ़ गई थी।

क्या-क्या सोचे जा रही हूँ।

'कल आऊँगा' कहकर कब का गया था बनियान वाला वह लड़का।

आ सकता था।

नहीं आया।

मैं इंतजार में नहीं हूँ। बिलकुल नहीं।

मैं तो बस, बच्चे के बॉथरूम की तरफ से लौटने का इंतजार कर रही हूँ।

दिल्ली निकट आ रही है।

https://www.hindiadda.com/bhitar-ka-vakt/